

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 11 अध्याय 21: वैदिक मार्ग का विवेचन

5 October 2026



भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को अपना उपदेश आगे बढ़ाते हुए दिखाते हैं कि शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष वस्तुओं में स्वयं स्थिर नहीं, अपितु उनकी अपनी करुणामयी व्यवस्था से निर्धारित होते हैं — और अन्त में वेदों का परम रहस्य उद्घाटित करते हैं: शास्त्र का प्रत्येक शब्द केवल उन्हीं का वर्णन करता है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम में आपका स्वागत है, जो श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं तथा शिक्षाओं के माध्यम से एक भक्तिपूर्ण यात्रा है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण एक ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हैं जो हर सच्चे जिज्ञासु के मन में कभी-न-कभी उठता है — शास्त्र, जो हमें मुक्त करने के लिए है, वही शुद्ध-अशुद्ध, उचित-अनुचित के इतने नियमों से हमें क्यों बाँधता प्रतीत होता है? अपने प्रिय उद्धव से बोलते हुए, भगवान् दिखाते हैं कि ये नियम एक पिता के कोमल अनुशासन मात्र हैं, जो आत्मा को केवल उनके घर तक पहुँचाने के लिए दिए गए हैं। और अन्त में, वे कुछ और भी दुर्लभ प्रकट करते हैं — वेदों के मूल में छिपा हुआ वह रहस्यमय नाद, जो यथार्थ में सुना जाए तो तीनों लोकों में उनके पावन नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहता।

अध्याय की जानकारी

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 11 (एकादश स्कन्ध)
- अध्याय: 21 (एकविंश प्रवचन)
- अध्याय शीर्षक: श्रीकृष्ण द्वारा वैदिक मार्ग का विवेचन
- प्रधान वक्ता: श्रीकृष्ण, उद्धव को उपदेश देते हुए; समस्त सुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित को कहा गया
- प्रधान श्रोता: उद्धव; तथा, भागवत के बाह्य ढाँचे में, राजा परीक्षित
- मुख्य स्थान: द्वारका, भगवान् के अपने प्रिय सखा एवं भक्त उद्धव के साथ निरन्तर संवाद में
- केन्द्रीय विषय: शुद्धि-अशुद्धि वस्तुओं में स्थिर नहीं, अपितु शास्त्रीय विधान से निर्धारित क्यों हैं; वेदों के फल-श्रुति का वास्तविक प्रयोजन; तथा वेदों का भगवान् के अपने नाद-स्वरूप के रूप में रहस्य
- प्रधान श्लोक-सीमा: स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 1-43
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

पिछले अध्याय का सन्दर्भ

अध्याय 20 में उद्धव ने भगवान् से एक ऐसा प्रश्न पूछा था जो उन्हें शान्ति से विचलित कर रहा था: वेद, जो विधि तथा निषेध दोनों देता है, वही शुभ-अशुभ के ज्ञान का साधन है — तो वही शब्द उस भेद को कैसे मिटाकर आत्मा को उससे परे कैसे ले जा सकता है? यह अध्याय भगवान् के उसी उत्तर को आगे बढ़ाता है, यह दिखाते हुए कि शास्त्र के नियम केवल आत्मा को उनके घर तक स्थिर रखने वाला एक विवेकपूर्ण अनुशासन हैं।

न त्यागे जाने योग्य मार्ग

भगवान् ने स्पष्ट रूप से आरम्भ किया: जो लोग उनके तीन मार्गों — भक्ति, ज्ञान तथा निष्काम कर्म — को त्यागकर चंचल इन्द्रियों से क्षुद्र वासनाओं का पीछा करते हैं, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधे रहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।

क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥

śrī-bhagavān uvāca / ya etān mat-patho hitvā / bhakti-jñāna-kriyātmakān / kṣudrān kāmāṁś calaiḥ prāṇair / juṣantaḥ saṁsaranti te

अर्थ: भगवान् ने कहा: जो लोग मेरे इन मार्गों — भक्ति, ज्ञान तथा सत्कर्म — को त्यागकर चंचल इन्द्रियों से क्षुद्र वासनाओं का भोग करते हैं, वे जन्म-मृत्यु में भटकते रहते हैं। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 1)

अपने नियत कर्तव्य में स्थिरता ही गुण है, उन्होंने कहा; उसका विपरीत दोष है। शुद्धि-अशुद्धि उन्हीं वस्तुओं के विषय में भी घोषित की जाती है, केवल सन्देह को शान्त करने के लिए, धर्म, व्यवहार तथा जीविका के प्रयोजन से (श्लोक 2-4)।

एक विधान, अनेक रूप

वही पाँच तत्त्व — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश — ब्रह्मा से लेकर सबसे निचले पौधे तक प्रत्येक देहधारी को रचते हैं, प्रत्येक अपने-अपने आत्म-अंश से युक्त। फिर भी वेद, प्रत्येक प्राणी के वास्तविक हित के लिए, मूल में समान वस्तुओं में भी भिन्न-भिन्न नाम तथा भेद स्थापित करता है — इसलिए नहीं कि वस्तुएँ स्वभावतः ऐसी हैं, अपितु कर्म को ही व्यवस्थित करने के लिए। भूमि का एक खण्ड या समय का एक अंश अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी पावन प्रयोजन के योग्य या अयोग्य बनता है, और जिससे सत्कर्म विमुख होता है, वही मात्र उस कारण से दोष कहलाता है (श्लोक 5-9)।



भगवान् दिखाते हैं कि शुद्धि स्थान, काल तथा द्रव्य सभी को स्पर्श करती है — प्रत्येक अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी पावन प्रयोजन के योग्य या अयोग्य बनता है (श्लोक 5-9)।

आत्मा तथा वस्तु की शुद्धि के अनेक मार्ग

अन्न, काष्ठ, अस्थि, वस्त्र, धातु, चर्म तथा मृण्मय वस्तुएँ अपने-अपने ढंग से शुद्ध होती हैं — काल, वायु, अग्नि, पृथ्वी या जल से; और जो किसी अशुद्ध वस्तु के दाग को हटाकर उसे उसकी स्वाभाविक अवस्था में लौटा दे, वही उसका सच्चा शोधक है। किन्तु कर्ता की शुद्धि, भगवान् ने कहा, इससे भी ऊँचे स्तर की है — वह स्नान, दान, तप, संस्कार तथा सत्कर्म से, और सबसे बढ़कर, उनके स्मरण से होती है।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।

मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्विजः ॥ १४ ॥

*snāna-dāna-tapo-'vasthā-vīrya-saṁskāra-karmabhiḥ / mat-smṛtyā cātmanaḥ śaucam śuddhaḥ
karmācared dvijaḥ*

अर्थ: आत्मा की शुद्धि स्नान, दान, तप, आयु तथा बल की उपयुक्तता, संस्कार तथा सत्कर्मों से होती है — और सबसे बढ़कर, मेरे स्मरण से; इस प्रकार शुद्ध होकर ही मनुष्य को अपने कर्तव्य में प्रवृत्त होना चाहिए। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 14)

मन्त्र की शुद्धि उसे भली-भाँति सीखने से आती है; कर्म की शुद्धि केवल उसे उन्हें अर्पित करने में है। धर्म इन्हीं छह से सिद्ध होता है — स्थान, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र तथा कर्म (श्लोक 10-15)।



आत्मा की शुद्धि, सबसे बढ़कर, भगवान् के स्मरण से आती है — और कर्म तभी शुद्ध होता है जब वह उन्हें अर्पित हो (श्लोक 14)।

जब विधान स्वयं अपना नियम बनाता है

शास्त्र के ही अधिकार से, जो एक परिस्थिति में गुण है, वह दूसरी में दोष बन सकता है, और दोष गुण — अतः जो विधान किसी प्रयोजन के लिए शुभ-अशुभ निश्चित करता है, वही इस भेद का वास्तविक आधार है, न कि वस्तु में छिपा कोई स्थायी गुण। जो पहले से ही पतित है, उसके लिए वही कर्म जो दूसरे के लिए पातक है, आगे पतन नहीं कराता, जैसे पहले से भूमि पर पड़ा व्यक्ति और नीचे नहीं गिर सकता। इससे भगवान् ने गहरा सिद्धान्त निकाला: मनुष्य जिस भी वस्तु का त्याग कर देता है, उससे वह मुक्त हो जाता है (श्लोक 16-17)।

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥ १८ ॥

yato yato nivarteta vimucyeta tatas tataḥ / eṣa dharmo nṛṇāṁ kṣemaḥ śoka-moha-bhayāpahaḥ

अर्थ: मनुष्य जिस-जिस वस्तु से विरत होता है, उस-उस से मुक्त हो जाता है; यही वह धर्म है जो मनुष्यों का कल्याण करता है, शोक, मोह तथा भय को दूर करता हुआ। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 18)

एक भूल कैसे प्रकार सम्पूर्ण जीवन को उलझा देती है

किसी वस्तु की भलाई के मिथ्या बोध से आसक्ति उत्पन्न होती है; आसक्ति से कामना; और कामना से ही मनुष्यों में कलह। कलह से क्रोध उत्पन्न होता है, जिसे रोकना कठिन है; क्रोध से मोह; और मोह से मनुष्य का विवेक शीघ्र ही अन्धकारमय हो जाता है। विवेक से रहित होकर, जीव मानो कुछ भी नहीं रह जाता, विषय-सुख से चिपका हुआ, न अपने को जानता न उससे परे को, वृक्ष की भाँति निरर्थक जीवन जीता हुआ तथा धौंकनी के समान श्वास लेता हुआ (श्लोक 19-22)।

गहन सत्य से पूर्व दी गई मिठास

यहाँ भगवान् उस बात को उद्धाटित करते हैं जिसे अनेक लोग वेदों का वास्तविक लक्ष्य मान बैठते हैं — स्वर्ग तथा सांसारिक वरदानों की प्रतिज्ञा। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह मार्ग का अन्त नहीं है; यह केवल अनिच्छुक हृदय को थोड़ा निकट खींचने के लिए है, जैसे कोई बड़ा-बूढ़ा आवश्यक औषधि से पहले मुख को मीठा कर देता है।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।

श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥ २३ ॥

phala-śrutir iyaṁ nṛṇāṁ na śreya rocanam param / śreya-vivakṣayā proktaṁ yathā bhaiṣajya-rocanam

अर्थ: यह फल-श्रुति मनुष्यों के लिए स्वयं परम श्रेय नहीं है; यह केवल उनके वास्तविक हित के प्रति रुचि जगाने के लिए कही गई है — जैसे कटु औषधि से पहले मिठास दी जाती है। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 23)



भगवान् कहते हैं कि वेदों की फल-श्रुति स्वयं परम श्रेय नहीं, अपितु सच्चे हित के प्रति रुचि जगाने के लिए है — जैसे कटु औषधि से पहले मिठास दी जाती है (श्लोक 23)।

मनुष्य जन्म से ही अपनी कामनाओं, अपने जीवन तथा अपने स्वजनों में आसक्त होते हैं, यद्यपि यही आसक्तियाँ उनके दुःख का कारण बनती हैं। वेदों के इस गूढ़ आशय को न समझकर, कुछ लोग इस पुष्पित प्रतिज्ञा को ही फल मान बैठते हैं, यज्ञाग्नि से चकाचौंध तथा उसके धूम से थके हुए, और इस प्रकार उन्हें नहीं जान पाते जो उनके ही हृदय में अदृश्य रूप से निवास करते हैं — जैसे कुहरे से धुँधली आँखें निकट खड़ी वस्तु को भी नहीं देख पातीं (श्लोक 24-28)।

यज्ञ के पीछे छिपा आशय

यहाँ भगवान् असाधारण स्पष्टता से बोलते हैं। उन्होंने कहा कि जीव की हिंसा के प्रति जो भी आसक्ति हो, वह किसी विधिवत् सम्पन्न यज्ञ तक ही सीमित रहनी चाहिए, और वहाँ भी शास्त्र उसे कभी आज्ञा नहीं बनाता।

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।

हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना ॥ २९ ॥

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।

यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥ ३० ॥

te me matam avijñāya parokṣaṁ viśayātmakāḥ / himśayāṁ yadi rāgaḥ syād yajña eva na codanā / himśā-vihārā hy ālabdhaiḥ paśubhiḥ sva-sukhecchayā / yajante devatā yajñaiḥ pitṛ-bhūta-patīn khalāḥ

अर्थ: मेरे इस गूढ़ आशय को न समझकर, वे दुष्ट पुरुष जो हिंसा में क्रीड़ावत् रमण करते हैं, अपने ही सुख की इच्छा में, अपने सुख के लिए मारे गए पशुओं द्वारा किए यज्ञों से देवताओं, पितरों तथा भूत-पतियों की उपासना करते हैं। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 29-30)



भगवान् का गूढ़ आशय है कि हिंसा की कोई भी प्रवृत्ति विधिवत् यज्ञ से परे शास्त्रीय अनुमति नहीं रखती, और शास्त्र उसे कभी आज्ञा नहीं बनाता (श्लोक 29-30)।

ऐसे लोग उस पर-लोक को, जो स्वप्न के समान क्षणभंगुर है किन्तु सुनने में मधुर, हृदय में सँजोकर, अपनी सम्पत्ति उस पर वैसे ही व्यय करते हैं जैसे कोई व्यापारी अपनी सारी पूँजी दाँव पर लगा दे। रजस्, सत्त्व तथा तमस् में स्वयं निमग्न, वे इन्द्र तथा अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, जो स्वयं भी इन्हीं तीन गुणों से बँधे हैं — न कि भगवान् की, जो इन सबसे परे हैं — इस आशा में कि स्वर्ग का भोग अन्ततः पृथ्वी पर महान् कुलों में पुनर्जन्म में परिणत होगा। उनके मन इन मधुर वचनों से इतने विचलित हो जाते हैं कि भगवान् की चर्चा भी उन्हें आकर्षित नहीं करती (श्लोक 31-34)।

त्रिकाण्ड वेद तथा उसका परोक्ष-प्रिय स्वभाव

और फिर भी, भगवान् कहते हैं, वेद वास्तव में इस सबके विषय में कभी नहीं थे। अपने तीन काण्डों — कर्म, उपासना तथा ज्ञान — को समेटते हुए, उनका एकमात्र वास्तविक विषय परमात्मा ही है, और ऋषि तथा वैदिक वाणी स्वयं इसे केवल परोक्ष रूप में ही कहते हैं; ऐसी परोक्ष शिक्षा, वे कहते हैं, उन्हें भी प्रिय है, क्योंकि यह इसलिए दी जाती है कि सच्चे जिज्ञासु इसे स्वयं खोजें, केवल बताए जाने से संतुष्ट न हों (श्लोक 35)।

वह गुप्त नाद जिससे वेद उत्पन्न होते हैं

इसके बाद जो आता है, वह सम्पूर्ण भागवत के सबसे ज्योतिर्मय अंशों में से एक है। वेद, भगवान् प्रकट करते हैं, नाद-रूप ब्रह्म है — प्राण, मन तथा वाणी से गुँथा हुआ, एक ऐसा यथार्थ जो समुद्र के समान असीम तथा अथाह है।

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्माणानन्तशक्तिना ।

भूतेषु घोषरूपेण बिसेर्षूर्णेव लक्ष्यते ॥ ३७ ॥

mayopabṛ̥hitaṁ bhūmnā brahmaṇānanta-śaktinā / bhūteṣu ghoṣa-rūpeṇa viśeṣūr̥ṇeva lakṣyate

अर्थ: मेरे द्वारा सँभाला गया, अनन्त शक्ति वाला यह असीम ब्रह्म-रूप वेद, ज्ञानियों द्वारा प्रत्येक प्राणी के भीतर अनाहत नाद के रूप में अनुभव किया जाता है — उतना ही सूक्ष्म जितना कमल-नाल में व्याप्त तन्तु। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 37)



वेद नाद-रूप ब्रह्म है, भगवान् द्वारा सँभाला गया तथा ज्ञानियों द्वारा प्रत्येक प्राणी के भीतर अनाहत नाद के रूप में अनुभव किया जाता है (श्लोक 37)।

जैसे मकड़ी अपने हृदय से जाला निकालकर अपने मुख से बाहर भेजती है, वैसे ही यही गुंजायमान प्राण, मन से होकर गुजरता हुआ, उच्चरित वाणी की सहस्र धाराओं को बाहर प्रवाहित करता है — ॐ से उत्पन्न प्रत्येक अक्षर से अलंकृत, असंख्य भाषाओं में विस्तृत, तथा उन छन्दों में उठता हुआ जो अपने नाम से स्मरण किए जाते हैं: गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट्। भगवान् स्वयं ही इस वाणी को प्रकट करते हैं, और भगवान् स्वयं ही अपने समय पर इसे पुनः अपने भीतर समेट लेते हैं (श्लोक 38-41)।

वेद का हृदय भगवान् के अतिरिक्त कोई नहीं जानता

भगवान् के अतिरिक्त कोई अन्य, वे कहते हैं, इस पावन वाणी का हृदय — वह क्या विधान करती है, क्या प्रकट करती है, तथा क्या पहले प्रस्तुत कर फिर अपने गहनतम भाग में कोमलता से हटा देती है — सत्य में नहीं जानता। यही वह सूत्र है जो इस सम्पूर्ण अध्याय को चुपचाप बाँधता है: शुद्धि का विधान, स्वर्ग की प्रतिज्ञा तथा वेद का संगीत तीन पृथक् वस्तुएँ नहीं, अपितु एक ही धैर्यपूर्ण शिक्षा की तीन सीढ़ियाँ हैं, प्रत्येक आत्मा को उनके निकट लाने के लिए रची गई, इससे पहले कि वह स्वयं उस शिक्षा से भी मुक्त हो जाए। वेद भगवान् को ही यज्ञ-रूप में विधान करता है, उन्हें ही अपने अनेक देवताओं के रूप में नामित करता है, और जिसे वह भगवान् से भिन्न बताकर पुनः हटा देता है, वह भी स्वयं वही भगवान् सिद्ध होता है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥ ४३ ॥

mām vidhatte 'bhidhatte mām vikalpyāpohyate tv aham / etāvān sarva-vedārthaḥ śabda āsthāya mām bhidām / māyā-mātram anūdyānte pratiṣidhya prasīdati

अर्थ: वह मुझे ही यज्ञ-रूप में विधान करता है; मुझे ही अपने अनेक देवताओं में नामित करता है; और जो कुछ वह मुझसे भिन्न मानकर पुनः निषेध कर देता है, वह भी स्वयं मैं ही हूँ। मुझ पर आश्रित होकर, वेद इस भेद को केवल माया कहकर, उसे हटाकर, मौन तथा सन्तुष्ट हो जाता है। यही सम्पूर्ण वेदार्थ है। (स्कन्ध 11, अध्याय 21, श्लोक 43)



वेद भगवान् को ही यज्ञ-रूप में विधान करता है तथा उन्हें ही अपने अनेक देवताओं में नामित करता है — यही सम्पूर्ण वेदार्थ है (श्लोक 43)।

इस अध्याय की प्रमुख शिक्षाएँ

1. शुद्धि-अशुद्धि शास्त्र द्वारा निर्धारित हैं, वस्तु में स्थिर नहीं। यह विधान आचरण को दिशा देने के लिए है, वस्तु में छिपे किसी स्थायी गुण का वर्णन करने के लिए नहीं (श्लोक 3, 7)।
2. सच्ची शुद्धि शरीर से आत्मा तक उठती है, और उसका शिखर भगवान् के स्मरण में है। स्नान, दान तथा संस्कार शरीर तथा कर्म को शुद्ध करते हैं; आत्मा की शुद्धि, सबसे बढ़कर, उनके स्मरण से होती है, और कर्म तभी पूर्ण रूप से शुद्ध होता है जब उन्हें अर्पित हो (श्लोक 10-15)।
3. जो विधान शुभ-अशुभ निश्चित करता है, वही अपने प्रतिबन्ध को भी हटा सकता है। एक परिस्थिति में दोष दूसरी में शास्त्रीय विधान से निर्दोष हो सकता है; इसका संकेत वैराग्य की ओर है, जो शोक, मोह तथा भय को दूर करता है (श्लोक 16-18)।
4. “भलाई” की एक ही भूल सम्पूर्ण जीवन उलझा सकती है। आसक्ति से कामना, कामना से कलह, कलह से क्रोध, तथा क्रोध से वह अन्धकार जो विवेक को ही निगल जाता है (श्लोक 19-22)।
5. वेदों की प्रतिज्ञाएँ किसी महत्तर वस्तु तक पहुँचाने की एक कृपा हैं, लक्ष्य नहीं। औषधि से पहले दी गई मिठास की भाँति, स्वर्ग की प्रतिज्ञा केवल अनिच्छुक मन को उसके वास्तविक हित की ओर खींचने के लिए है; पुष्प को फल मान लेना आत्मा को भीतर विराजित भगवान् से और दूर कर देता है (श्लोक 23-28)।

6. शास्त्र हिंसा को कभी कर्तव्य नहीं बनाता, और भगवान् उसे विकृत करने वालों को दुष्ट कहते हैं। हिंसा की कोई भी प्रवृत्ति विधिवत् यज्ञ से परे शास्त्रीय अनुमति नहीं रखती; जो अपने सुख के लिए वध करते हैं और उसे पूजा कहते हैं, वे भगवान् के आशय से चूक गए हैं (श्लोक 29-34)।

7. सम्पूर्ण वेद, अपने तीनों काण्डों में, भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं कहता। शुद्धि के नियम आचरण को व्यवस्थित करते हैं, स्वर्ग की प्रतिज्ञा अनिच्छुक मन में हित की रुचि जगाती है, और वेद का पावन नाद स्वयं भगवान् से उत्पन्न होकर उन्हीं में लौट जाता है — शास्त्र पहले भेद के जगत् का वर्णन करता है, फिर उसी जगत् को उस एकमात्र सत्य में विलीन कर देता है जिसकी ओर वह सदा संकेत करता रहा। वेद को इस प्रकार सुनना उसके नियमों को एकत्र करना छोड़कर उसके रचयिता को पहचानना है (श्लोक 35-43)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

अपने ही नियमों को समझाने वाले गुरु में एक विशेष करुणा होती है। अधिकांश शास्त्र केवल आज्ञा देते हैं; यहाँ, हम भगवान् के तर्क को प्रकट होते देखते हैं, मानो कोई माता-पिता अन्ततः अपने प्रौढ़ सन्तान को यह समझा रहे हों कि कुछ सीमाएँ क्यों बाँधी गई थीं — बाँधने के लिए नहीं, अपितु उस हृदय की रक्षा के लिए जो सम्पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण करने को अभी तैयार नहीं। वेदों की स्वर्गीय प्रतिज्ञाओं को आवश्यक औषधि से पहले जिह्वा पर रखी गई मिठास मान लेना कोमल भाव है, और यह भी कोमल है कि भगवान् उन लोगों के लिए शोकित होते हैं जो उस मिठास को ही औषधि समझ बैठते हैं और उन्हें कभी ढूँढ़ने नहीं आते, यद्यपि वे स्वयं उनके ही हृदय में सदा अदृश्य रूप से विराजमान रहते हैं। फिर, जब शिक्षा शुद्धि तथा यज्ञ के नैतिक नियमों में समाप्त होती प्रतीत होती है, वह अचानक एक विशाल तथा संगीतमय सत्य में खुल जाती है — वेद जीवन्त नाद के रूप में, भगवान् द्वारा उसी स्वाभाविकता से उच्चरित तथा पुनः समेटे गए जैसे मकड़ी अपना जाला स्वयं बुनती है। इस अध्याय के साथ बैठना शास्त्र को आत्मीय होते अनुभव करना है: भय का कोई दीवार नहीं, अपितु एक वाणी जो सदा केवल एक ही नाम कहने का प्रयास करती रही।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, उस मिठास से परे उस औषधि को देखने का अभ्यास कीजिए जिसकी ओर वह आपको ले जाना चाहती थी। उस एक छोटी कामना को पहचानिए जिसका आप केवल इसलिए पीछा कर रहे हैं क्योंकि वह कल्पना में मधुर लगती है, और पूछिए, जैसे भगवान् यहाँ पूछते हैं, कि क्या यह स्वयं फल है या मार्ग में दिया गया मात्र एक पुष्प। फिर कुछ क्षण शान्ति से बैठिए और अपना ध्यान भीतर की ओर, हृदय में पहले से विराजमान भगवान् की ओर मोड़िए, प्रेमपूर्वक जपते हुए: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” उस मोड़ में — पुष्प से फल की ओर — आप इस अध्याय के प्रकट किए गए उसी मार्ग पर चलते हैं।

उपसंहार

एकादश स्कन्ध के इस एकविंश प्रवचन में, भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव की उलझन का उत्तर गहन तथा कोमल शिक्षा से देते हैं। शुद्धि-अशुद्धि तथा गुण-दोष, वे दिखाते हैं, वस्तुओं में छिपे स्थायी गुण नहीं, अपितु आत्मा को स्थिर रखने वाला शास्त्र द्वारा दिया गया करुणामयी अनुशासन है; सच्ची शुद्धि अन्ततः उनके नाम के सरल स्मरण तक उठती है। वे प्रकट करते हैं कि वेद अपनी गहन सत्यता को स्वर्ग की प्रतिज्ञाओं से क्यों मीठा करते हैं, और जो उस मिठास को ही फल मान बैठते हैं, या पावन यज्ञ को हिंसा के लिए अनुमति में विकृत कर देते हैं, वे क्यों उनसे अनभिज्ञ

रहते हैं यद्यपि वे उनके ही हृदय में अदृश्य रूप से विराजमान हैं। और अन्त में, शिक्षा परम विस्मय में उठती है: वेद स्वयं उनका पावन नाद सिद्ध होते हैं, उन्हीं के द्वारा प्रकट तथा पुनः समेटे गए, प्रत्येक अक्षर उनके ही एक नाम का उच्चारण करता हुआ। उद्धव के साथ इस अध्याय में चलना यह सीखना है कि शास्त्र को वैसे ही सुनें जैसे भगवान् स्वयं उसे सुनते हैं — वह वाणी जो सदा, केवल, हमें घर बुला रही थी।

श्रीमद्भागवतम् की दिव्य वाणी हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जगाए।

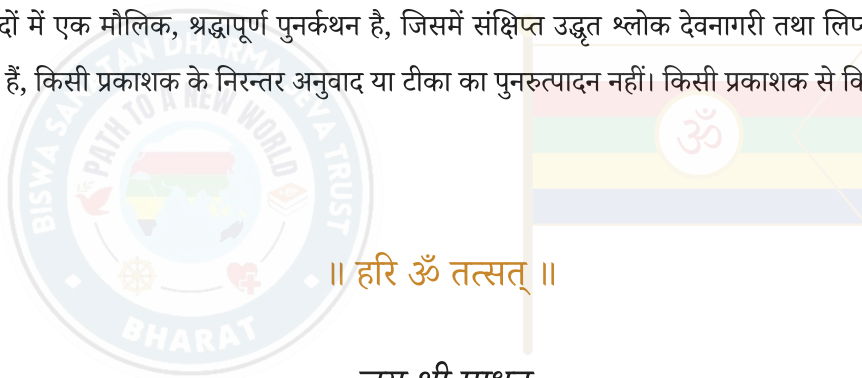
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), एकादश स्कन्ध, एकविंश प्रवचन, पृष्ठ 610–616।
- शृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • बिस्वा सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, श्रद्धापूर्ण पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दिए गए हैं और उनके अर्थ सारांश रूप में हैं, किसी प्रकाशक के निरन्तर अनुवाद या टीका का पुनरुत्पादन नहीं। किसी प्रकाशक से किसी सम्बन्ध या समर्थन का दावा नहीं किया गया है।



ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-skandh-11-adhyay-21-vaidik-marg-ka-vivechan-hi.html

श्रीमद्भागवतम् विज़डम • कल्कि अवतार इंटरनेशनल • बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट